Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2019 GISRRJ | Volume 2 | Issue 3 | ISSN : 2582-0095

भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता का प्रभावः एक विश्लेषण

डॉ0 विकास चन्द्र वशिष्ठ
एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ।

भूमिका

साम्प्रदायिक के ऐतिहासिक स्वरूप पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान साम्प्रदायिकता पुनर्जागरण आधुनिकीरण की प्रक्रिया से उत्पत्र एक समकालीन प्रघटना है। हिन्दु और मुसलमान के बीच बढ़ता संघर्ष इसी प्रक्रिया से जन्मित "सांस्कृतिक विलम्बना" (कल्चर लैग) का ही परिणाम हैं इसी कारण मुस्लिम दृष्टिकोणों व्यवहारों, विचारों, विश्वासों, मूल्यों व आदर्शो इत्यादि पर रूढ़िवादी विारों का प्रभाव रहा है। जिससे ब्रिटिश शासनकाल में उत्पन्न भौतिकवादी चुनौती ने इनकी जीवन शैली में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को विलम्ब से स्वीकार ने को बाध्य किया। पं0 जवाहरलाल नेहरू ने इस प्रक्रिया को 'विलम्बित आधुनिकीकरण' की प्रक्रिया का नाम दिया और इन दोनों के मध्य विकसित साम्प्रदायिकता को "एक मध्यम वर्गीय समस्या" के रूप में देखा। उनके अनुसार साम्प्रदायिकता धार्मिक समुदाय पर आधारित एक संकीर्ण स्नूह मनोवृति है सथी ही निहित स्वार्थो के लिए राजनीतिक शक्ति को संरक्षण देन कन्स में भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता क प्रभाव प्रत्यक्ष न होकर परोक्षा रूप से अधिक रहा है। जैसे–सभी राजनीतिक दल जनता के दिये जाने आश्वासनों व . अपीलों में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के हितों का ख्याल रखते हैं। निर्वाचनों में उम्मीदवारों के चयन तथा मतदान में धर्म की राजनीति का प्रभाव स्पष्टत देखने को मिलता रहता है।

1 जवाहर लाल नेहरू दि डिस्कवरी आफ इण्डिया ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस दिल्ली– 1980 पृष्ठ 381 ———382

निर्वाचन क्षेत्रों में विभिन्न सम्प्रदायों के बीच होने वाले विवादों या संघर्षो में राजनीतिक दल एक–दूसरे पर दोषारोपण राजनीतिक लाभ से करते है। कई बार मतों को प्राप्त करने के उद्देश्य से अल्पसंख्यक सम्प्रदाय के प्रतिनिधि को मंत्रिमण्डल में के बाद शामिल किया जाता है या उस सम्प्रदाय के व्यक्ति को राजनीतिक पद देकर मतदाताओं को प्रभावित किया जाता है। देश के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों

के नेताओं में राजनीतिक महत्वाकांक्षा की अभिलाषा भी बढ़ी है। इन सम्प्रदायों के अभिजन वर्ग अपने स्वार्थो को पूरा करने के लिए साम्प्रदायिकता का जामा पहनकर इसे बढ़ावा दे रहे हैं। राजनीतिक क्षेत्र में प्रभावशाली बनने के लिये अपनी संस्कृति व धर्म का 'राजनीतिकरण' किया है और अवसर प्राप्त होने पर राजनीतिक दलों के साथ सौदेबाजी भी की है। भारत में दोनों सम्प्रदायों हिन्दु और मुसलमानों में यह राजनीतिक महत्वाकांक्षा देखने को मिली है।

अतः व्यवहार में देखा गया है कि भारत के लोकतांत्रिक ढाँचे में राष्ट्रवाद के प्रति प्रतिबद्धता की भावना कमजोर रही और साम्प्रदायिक समस्या लगातार एक चुनौती के रूप में विद्यमान रही। वस्तुत साम्प्रदायिकता की समस्या के संदर्भ में देखा गया है कि विभिन्न सम्प्रदायों में मूल सत्ता का द्वन्द्व अभी भी बरकरार है। हमारे राजनीतिक दलों द्वारा साम्प्रदायिक विद्वेष फैला कर या धार्मिक तनावों से लाभ उठाकर चुनाव में वोट बटोरने की प्रवृत्ति भी प्रबल रही है जो निःसंदेह भारतीय राष्ट्रवाद और लोकतंत्र के लिये घातक रही है। यदि 1977 के बाद के चुनावो मतदान व्यवहार का अध्ययन किया जाये तो यह प्रतीत होगा कि इन चुनावों में लगभग साम्प्रदायिकता की राजनीति का अंत हो गया था, क्योंकि धर्म, जाति या अन्य आधारों से हटकर मतदाता कांग्रेस को आपातकालीन समय में की गयी ज्यादतियों के कारण हराने के लिय कटिबद्ध थे। लेकिन 1980 के लोकसभा के मध्यावधि चुनावों में साम्प्रदायिक राजनीति का पुनः तीव्रता से उदय हुआ क्योंकि 1977 में मुस्लिम मतदाताओं ने आपातकाल के विरोध में बनी जनता पार्टी को पूरा समर्थन दिया।

कुछ समय बाद जनता पार्टी में पुनः उनसंघ घटक के रूप में प्रभावशाली बना और मुस्लिम मतदाता उस पार्टी से पूर्णत विमुख रहा। फलतः मुस्लिम लीग, जमायते–इस्लामी व नेशनल लीग ने राजनीति में सक्रिय भाग लिया। दूसरे शब्दों में साम्प्रदायिकता की भूमिका सामाजिक क्षेत्र की अपेक्षा राजनीतिक क्षेत्र में अधिक शक्तिशाली प्रभावशाली रही है। सम्प्रदायों का पहले सामाजिक महत्व था, लेकिन अब इनका राजनीतिक महत्व बढ़ता जा रहा है। साम्प्रदायिकता के लिये, धर्म जाति या सम्प्रदायों पर आधारित राजनीतिक दल अधिक उत्तरदायी है।

(ख) साम्प्रदायिकता बनाम धर्म

धर्म मानव ने समाज ने समाज में अनुशासन के लिये बनाया था। किन्तु कालान्तर में धर्म को ईश्वर का वरदान माना गया और इतिहास व दर्शन के पृष्ठों में धर्मशास्त्रियों ने इसकी अगणित अबूझ व्याख्यायें प्रस्तुत की। अधुनातन युग में . तीन मनीषियों –– चार्ल्स, डार्विन, कार्ल, मार्क्स और सिग्मण्ड फ्रायड ने धर्मदर्शन की मान्य परम्पराओं की नवीन परिभाषायें दी। डार्विन के 'विकासवाद' ने धार्मिक सिद्धांतों की नीव हिला दी और मार्क्स ने तो 'धर्म की अफीम की संज्ञा देकर साम्यवादी क्रांति के द्वारा अनेक प्रगतिशील देशों में धर्म को निम्न स्थान प्रदान किया।

भारत में जहाँ से कभी मर्यादा पुरूषोत्तम श्रीराम युग पुरूष श्रीकृष्ण, तीर्थकर महावीर, महामानव बुद्ध व नानक जी के धार्मिक संदेश भेजे थे, जहाँ शंकराचार्य के बाद धर्म सुधार आन्दोलन की गंगा दयानन्द सरस्वती तक बहती रहीं, वहीं विशाल 2 मार्क्स ऑन रिलीजन।

भारत के औदार्य में हजरत ईसा, पैगम्बर मुहम्मद और जरथुस्त्र के धर्मादश भी विकसित हुए और भक्तों व सूफियों के अनेक मतों सम्प्रदायों द्वारा प्रेम व अहिंसा का संदेश प्रसारित हुआ। उसी भारत में साम्प्रदायिकतावादी रक्तपात का ताण्डव नृत्य कर रहे हैं। इतिहासकार प्रो0 इरफान हबीब ने कहा है कि "ब्रिटिश साम्राज्य वाद की श्रृंखला को तोड़ने के संघर्ष में भारतवासियों की एकता ने साम्प्रदायिकता को नकार दिया था। अतः स्वतंत्रता सेनानियों को देश विभाजन के लिये कलांकित नहीं किया जाना चाहिए, बँटवारा आजादी की लड़ाई का परिणाम नहीं। किन्तु मुसलमानों को संघर्ष की मुख्यधारा में एक करने की गलती कहना अनैतिहासिक है। भारतीय कांग्रेस द्वारा 1931 में करांची प्रस्ताव के दिन से ही यह क्रांति की उपलब्धि रही कि यह विभिन्न धर्मावलम्बियों को एकता में सूत्रबद्ध करने में सक्षम हो सकी।

यह आवश्यक है कि हम अतीत से शिक्षा ले और वर्तमान समस्याओं के उत्तर में वैज्ञानिक
धर्म–निरपेक्षता का सहारा लें।

लोर इतिहासकार प्रो० नरूल हसन ने जवाहर लाल नेहरू को उदधृत करत हु– कह है के रूदयिकतावाद से भारत में फालिक का रस जन्म ले सकता है वास्तव = राष्ट्रवाद क उन्न करने वाले स्थाओं से कहीं अधिक देशीप्रेमी मौन व्यक्ति या समय गहन है इस्लान का संदेश है "हुब्बुल वतन मिनल ईमान' अर्थात दरप्रेन की धर्म है। सरोजनी नायडू ने कहा था कि इकबाल को पढ़कर मेरी आत्मा संकीर्ण राष्ट्रवाद की जंजीरो से आजाद हो गयी है। प्रो० विपन चन्द्र ने लिखा है कि 19वीं सदी के मध्य से भारत में जातिवाद क्षेत्रीय वाद तथा साम्प्रदायिकतावाद का आइफाइड चढ़ा है। राजनीतिक रूप से दंगे 3 इरफान हबीब, रवीन्द्र भारतीय विश्वविद्यालय में राष्ट्रीय आन्दोलन पर आयोजित वर्कशाप में भाषण । हिन्दुस्तान टाइम्स दि0 1988 पृ0––7 4 नरूल हसन, दिल्ली विश्वविद्यालय में भाषण, हिन्दुस्तान टाइम्स 3 दि0 1988 पृ0 5 5 इण्डिया विन्स फ्रीडम। ओरियण्ट लांगमैन्स 1988 हिन्दू–मुस्लिम साम्प्रदायिकता और धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवादी शक्तियों के बीच हुए। भारत धार्मिक समुदायों का एक संघ था, है और रहेगा। आज दंगों में एक व्यक्ति की हत्या को उसके सम्प्रदाय के साथ जोड़ दिया जाता है। आज हर स्तर पर राजनीति समाज अर्थ के धरातल पर भारत को इस उग्र प्रतिक्रिया का सामना करना पड़ रहा है।

भला धर्म को राजनीति में इतना सरलता से कैसे लाया जा सका? आरम्भ में तो इसलिए कि पूर्व पूँजीवादी युग के लोगो के जीवन का बड़ा हिस्सा धर्म से प्रभावित रहता है राष्ट्रवाद और वर्ग भावना

के अभाव में धर्म ही उसके जीवन का सर्वाधिक भावनात्मक पक्ष होता है। जैसे कि के0वी0 कृष्णा का कथन है "कारण शून्य में सक्रिय नहीं होते वे जीवन में ही कार्यशील होते है अतः वे जीवन के सभी चरणों को फिर से प्रस्तुत करते हैं" "धर्म इसलिए बीच में आ जाता है कि वह उसी सामाजिक व्यवस्था का अंग है जिसमें लोग रहते हैं। किसी भी समाज की चिन्तन पद्धति से उसे अलग नहीं किया जा सकता।" धर्म को राजनीति में मुख्य रूप से इसलिए लाया गया ताकि धर्म निरपेक्ष और धार्मिक क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाली वर्ग और सामाजिक समूह की राजनीति को मुखौटा दिया जा सके। सम्प्रदायवादी धर्म का इस्तेमाल इसलिए करते थे कि धार्मिक विभाजन की पहले से विद्यमान चेतना को प्रेरित करके राजनीतिक विभाजन की एक अन्य ही प्रकार की चेतना को उत्पन्न किया जा सके। उन्होंने धर्म को केवल अपने राजनीतिक लक्ष्यों के लिए एक समूह एवं विभाजक सिद्धान्त के रूप में प्रयुक्त किया। उन्होंने एक छद्म चेतना उत्पन्न करने के लिए धर्म का प्रयोग किया। इसके अतिरिक्त उनके लिए धर्म का कोई उपयोग न था इसी धार्मिक कट्टरता के कारण भारतीय राजनीति में धार्मिक घटक का प्रवेश हुआ था। इसी कारण साम्प्रदायवादियों द्वारा धर्म के नाम पर भावनात्मक 6 कम्यूनिज्म इन मार्डन इण्डिया। वाणी एजूकेशनल बुक्स, नई दिल्ली 1984 पृ0 83

दुहाई देने पर लोग उसके प्रभाव में आ जाते थे इसके अतिरिक्त धर्मान्धता के अनियंत्रित होने का भी भय रहता था। क्योंकि इसकी कोई निश्चित परिभाषा नहीं थी। धार्मिक कट्टरता के अभाव में धार्मिक उन्माउ को नहीं भड़काया जा सकता था। बिना धर्मान्धता और कट्टरपन के साम्प्रदायिकता वैसा उन्माद नहीं धारण कर सकती थी जैसा की उसने 1946–47 में किया था।

साम्प्रदायिकता धर्म की एक खास तरह की व्याख्या है। धर्म की मानवतावादी न्यायपरक व्याख्या के विरूद्ध संकीर्ण और आक्रामक व्याख्या। हमारे देश में इस व्याख्या ने मिथ्या चेतना का और राष्ट्रीय भावना के विरूद्ध प्रतिवाद का काम किया है। राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वाभाविक सह–सम्बन्ध भारतीय की ऐसी उदात्त धारणा में था, जो सभी धार्मिक विश्वासों और सांस्कृतिक विशिष्टताओं को धारण करने की महत्वाकांक्षा रखती थी। इस राष्ट्रीय भावना का प्रतिस्वर अल्पसंख्यक साम्प्रदायिकता के फाँसीवाद में बार–बार फूटता रहा है। अल्पसंख्यक साम्प्रदायिकता अपने चरम पर अलग देश की मांग करने लगती है और बहुत साम्प्रदायिकता चूंकि अलग देश की मांग तार्किक रूप से कर ही नहीं सकती, तो वह संस्कृति के विकृत रूप तथा सत्ता के फासिस्टीकरण की रणनीति जमाने लगती है। इसका मूल कारण यह है कि बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता बड़ी आसानी से स्वयं को उग्र राष्ट्रवाद का सम्मान दे सकती है। अन्य साम्प्रदायिकताओं को यह सुविधा प्राप्त नहीं है। यह एक सच्चाई है कि साम्प्रदायिकता का जुनून अब भी देश और संस्कृति के ऊपर नहीं पहुँचा है।

यहाँ एक बात और स्पष्ट हो जानी चाहिए कि सभ्यता और संस्कृति कभी .

धर्म या सम्प्रदाय के साथ बंधी नहीं होती मूलतः वह किसी राष्ट्र की धरोहर होती
है। जो इतिहास के उतार–चढ़ाव में जन्म लेती है, पलती है, बढ़ती है। हिन्दू संस्कृति व मुस्लिम संस्कृति जैसे शब्द पूर्णतः निराधार हैं, उनके लिये एक ही शब्द दिया जा सकता है, भारतीय संस्कृति। "भारत के मुसलमानों के जीवन मूल्य सउदी अरब, ईराक और ईरान के समकक्ष नहीं हो सकते। ईरान और सउदी अरब में भी
संस्कृति आधार पर कोई एकरूपता नहीं है। इण्डोनेशिया में रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्य राष्ट्रीय पुस्तक है। उनकी अपनी एक अलग पहचान है, अर्थात धार्मिक आग्रह के बात है और राष्ट्रीय इतिहास, राष्ट्रीय संस्कृति एवं उसके मूलाधारों को नकारना दूसरी बात है।"
साम्प्रदायिकता धर्मो तक ही सीमित नहीं है। बल्कि जातियों और उप जातियों में भी फैली हुई है। आज चुनावों का आधार जातिवाद तथा बिरादरीवाद हो गया है, जिसके कारण साम्प्रदायिकता की गहराई और भी बढ़ती जा रही है। इससे समाज एकीकृत होने के स्थान पर टुकड़ो–टुकड़ों में बट रहा है। अनेकता में एकता को भारत की विशेषता कहा जाता है, किन्तु अब यह विचार सुखद दिवास्वप्न के तमान प्रतीत होता है। आज हर धर्म, सम्प्रदाय के व्यक्ति राष्ट्रीय एकता से पहले अन् सन्दय को महत्व देते है। इस कारण राष्ट्रीय धर्म गौण हे गया है इससे सन्त्रदायिकत के भावना के बल मिलता है अन् को धर्मनिरपेक्ष कहने वाले लगभग सभी राजनैतिक दल अल्पसंद = जैसे बचेनी व असुरक्षा की भावना के प्रति मुखर चे व्यन करते है तुष्टिकरण की नीति के कारण बहुसंख्यक, समाज भी अल्पसंख्यकों को संदेह की दृष्टि से देखता है।
धर्म अपने आप में साम्प्रदायिकता के लिए दोषी नहीं है, न ही धर्म निरपेक्षता के लिए धर्म के विरूद्ध संघर्ष करने की आवश्यकता है। आवश्यकता इस बात की है कि धर्म निरपेक्षा क्षेत्र में धर्म के हस्तक्षेप का विरोध किया जाए। विशेष रूप से धर्म को राजसत्ता, राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र से पूर्णरूपेण अलग कर देना चाहिए।
केटी कृष्ण "द प्राब्लम्म आफ मिनांरिटीज' 277. 292 पेज

व्यक्तिगत जीवन में भी धर्म का हस्तक्षेप कम होना चाहिए। विभिन्न धर्मो ने ऐतिहासिक रूप से अपने कार्यकलापों, गठन, विचारधाराओं एवं व्यवहारों में ऐसे तत्व विकसित कर लिए है जो या तो साम्प्रदायिकता में योगदान करते है या उसके अनुकूलन है। इन तत्वों को पहचान कर उनका विश्लेषण और आलोचना की जानी चाहिए और उन्हें समाप्त किया जाना चाहिए। किन्तु वास्तव में हो इसके विपरीत रहा है। विभिन्न धर्मो के ठीक इन्ही तत्वों को सुदृढ करने के प्रयास किये जा रहे है। उदाहरण के लिए राम और कृष्ण जैसे सार्वजनिक रूप से समाहत धार्मिक सांस्कृतिक चरित्रों का साम्प्रदायिकरण किया जा रहा है। दशहरा, रामनवमी, जन्माष्टमी, विभिन्न स्थानीय देवी देवताओं की

पूजाओं, मुर्हरम, ईद, शबेरात और सिक्ख गुरूओं या रामदास, वाल्मिकी इत्यादि के जन्मदिनों के उत्सवों के साथ भी यही हो रहा है। इस संदर्भ साम्प्रदायिकता के खिलाफ विचारधारात्मक स्तर पर संघर्ष करने के लिए वैज्ञानिक ज्ञान, वैज्ञानिक विचारधारा के प्रसार में वृद्धि और लोगों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समावेश करना आवश्यक है। शिक्षा व्यवस्था और प्रेस इत्यादि के माध्यम से छपने वाली सामग्री का इस्तेमाल साम्प्रदायिकता, जातिवाद एवं कट्टरवादी क्षेत्रीयता की भावना उत्पन्न करने और फैलाने के लिए किया जा रहा है। अतः शिक्षा के प्रसार का परिणाम यह हुआ है कि साम्प्रदायिक, प्रगतिविरोधी एवं अतार्किक विचार और विचारधाराएँ अब अधिक लोगो तक पहुँच रही है। अतः वैज्ञानिक आधार पर शिक्षा के, विशेष रूप से इसके सामाजिक अध्ययन से सम्बन्धित पक्ष के पुनर्गठन की अत्यन्त आवश्यकता है। साम्प्रदायिक पत्रिकाओं और ऐसे ही कार्टूनों के प्रकाशन में बहुत वृद्धि हुई है और उन्हें पढ़ने वाले होते है प्रायः बच्चे या नवसाक्षर। पाठकों की संख्या बढ़ने के साथ ही साम्प्रदायिक प्रकाशनों का दुष्प्रभाव भी बढ़ता जा रहा है। इस दृष्टि से शिक्षा और प्रेसं की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। आशा की जाती है कि साक्षरता एवं शिक्षा का ...

प्रसार लोगों को साम्प्रदायिकता एवं जातिवाद से दूर रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायेगा।

(ग) साम्प्रदायिकता और राष्ट्रवादिता

स्वतंत्र भारत इस समय इतिहास के कठिन और निर्णायक दौर से गुजर रहा है। आज हमें अपने दुःख दर्द को भारतीय के रूप में नहीं बल्कि अपनी साम्प्रदायिक या जातिगत पहचान के आधार पर महसूस करते है। हिन्दु मुसलमान हरिजन सर्वण, आदि आदिवासी सरीखी पहचाने भारतीय पहचान के कमजोर होने के अनुपात में ही मजबूत हुई है। हममें से अधिकतर के लिये "भारत अब भी एक राजनीतिक और प्रशासनिक इकाई है, भारतीयता का बोध हमें या तो सतही भावुकता के रूपों में होता है या नकारात्मक स्थितियों के दबाव में। अपनी अन्दुरूनी पहचान और संवेगों के धरातल पर हम हिन्दुसन से वह रिश्ता स्थापित नहीं कर सके हैं, जो अन्य वफादारियों पर भारी पड़ता है। प्रश्न उठता है कि ऐसी वफादारी का अर्थ क्या अपनी धार्मिक आस्था, पारम्परिक संस्कृति और परिवेश से नाता तोड़ लेना है? क्या भारतीय होने की शर्त यह है कि रहीम इस्लाम से हाथ झाड़ ले और विक्टर ईसा से पिंड छुड़ा ले? क्या भारतीयता की यही मांग है कि व्यक्ति को उसके प्रांतीय गौरव, धार्मिक आस्था, रीति–रिवाज, परम्परा से अलग कर दिया जाये? क्या भारतीयता ऐसी चट्टान है जो अपने नीचे की वनस्पति को कुचलकर ही अपना अस्तित्व बनाये रख पायेगी? ऐसे प्रश्नों का उत्तर हमें इतिहास से स्पष्ट प्राप्त होता है।

हम याद करें कि हमारा स्वाधीनता आन्दोलन बहुत सी सीमाओं के बावजूद आधुनिक राष्ट्र राज्य के निर्माण का भी आन्दोलन था। केवल अंग्रेजों को भगा दन भर का नहीं। ऐसे राज्य की आधारभूत

राष्ट्रीय भावना का विकास करना आंदोलन का सबसे बड़ा लक्ष्य था साथ ही राष्ट्रीय भावना के प्रतिरोधी स्वर कम प्रबल नहीं थे। इन तथ्यों को भुलाकर ही आज क्रांतिकारी बनकर गांधी के नेतृत्व को कुछ लोग कोसा करते हैं, लेकिन इसमें मुँह चुराना आज भी मुश्किल है कि गाँधीजी ने स्वाधीनता आन्दोलन और उसके सारे मुहावरे को एक महास्वप्न से जोड़ दिया था, वह स्वप्न, आखरी आदमी की आँख से आँसू पोंछने का स्वप्न गाँधी जी के राम राज्य की शब्दावली चाहे जो हो, उसका मर्म इसी सपने में है। इसी के साथ एक महत्वपूर्ण कार्य यह हुआ कि लोगों की धार्मिक आस्था से संवाद कायम रखते हुए ही उनके राष्ट्रीय आत्मबोध के बिन्दु धीरे–धीरे बदले गये। लोग स्वयं को अपने धर्म से तोड़े बिना ही देश से जुड़े। गाँधी जी की इच्छित राष्ट्रीय चेतना का मूल भाव यही था। कि मनुष्य की धार्मिकता की पहचान आस्था की घोषणाओं ही से नहीं, उसके आचरण की मानवीयता से होनी चाहिए अर्थात अल्पसंख्यकों में असुरक्षा और अविश्वास भर कर कोई समाज लोकतांत्रिक नहीं रह सकता और कोई संस्कृति मानवीय नहीं बनी रह सकती।

आज की समस्या यह है कि हम राष्ट्रीय भावना को अपने सहजबोध और विवेक के स्वाभाविक मूल में लाने में विफल रहे हैं। कारण यह है कि हम राष्ट्रीय चेतना के ाधारभूत न्याय और समता के महास्वप्न को भुला बैठे है। हम अभिजनों और मध्यम वर्गीयों ने कंगाली और अमानवीयता के मरूस्थल के बीच अपने लिये अवसरों और सुविधाओं का नखलिस्तान रच लिया है। अब हमारी वास्तविक चिंता "आदमी की ऑख से ऑसू पोछने की नहीं, बल्कि समृद्धि के बँटवारें में बड़े से बड़ हिस्सा खुद हड़प जाने की है। हम अपने नखलिस्तान को राष्ट्र समझते हैं अइसके बन रहने की यथास्थिति को एकता और अखण्डता। इस एकता–अखण्डन को सामाजिक संदर्भ से काटकर दैविक गरिमा से मण्डिल करने के उत्साह में इस भुला देते है कि भारत सरीखे देश में सामाजिक न्याय के बिना आर्थिक निरर्थक है औन जन–जन की उन्मुक्त हिस्सेदारी के बिना राष्ट्रीय भावना असंभव है।

देश केवल भौगोलिक विस्तार का नहीं जनता की समग्र की पहचान का नाम है। संस्कृत केवल नाच–गान कविता–शासन र इतिहास के गौरव का नाम नहीं बल्कि परिष्कृत मानवीय मूल्यों की परम्प कालीन प्रक्रिया का नाम है। इतनी बुनियादी. बाते भी हिन्दुवाद का या इस्लाम क उलटन के उत्साह में भुला दी जायेंगी? धर्म और संस्कृति दोनों के ही प्रसंग में अनूतं असरणा से अधिक महत्वपूर्ण है, सामाजिक और व्यावहारिक व्याख्या। भारत में धर्म, राष्ट्र सति संस्कृति और सम्प्रदाय के अन्त सम्बन्धों को ठीक–ठीक समझे बिना भारत के सभी नागरिकों में वास्तविक एकता के आधारों और साम्प्रदायिकता के स्वरूप को नहीं समझा जा सकता। राष्ट्र, जाति या संस्कृति की कोई भी संकीर्ण या अति व्यापक परिभाषा भारत में रहने वाले विभिन्न सम्प्रदायों और राष्ट्रीयताओं के बीच लोकतांत्रिक सम्बन्धों का आधार नहीं हो सकती। राष्ट्र लोगों की समूह बद्धता का ऐसा रूप है, जो

उनके साझे आर्थिक जीवन, साझे क्षेत्र साझी भाषा आत्मिक विशिष्टताओं में व्यक्त होता है। "राष्ट्र की यही परिभाषा एकमात्र मान्य परिभाषा हो सकती है भारत विभिन्न राष्ट्रीयताओं का समूह है और इन राष्ट्रीयताआ की अपनी विशिष्ट संस्कृतियाँ है। इस तरह जिसे भारतीय संस्कृति कहते है वह वस्तुतः विभिन्न जातीयताओं के सांस्कृतिक अवदान की सामूहिक अभिव्यक्ति है। चूंकि भारत के पिछले तीन हजार वर्षो में कई जातियां आई और यहां बस गई।" कई जातीय समूहो ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों पर शासन किया, यहाँ पहले से चले आ रहे जन जीवन को प्रभावित किया और स्वयं भी प्रभावित हुए। इसलिए आज जिसे भारतीयता के नाम से जाना जाता है, वह भारत में रहने वाली विभिन्न जातीयताओं और बाहर से आने वाली जातीयताओं की संस्कृति विशिष्टताओं की पारम्परिक अन्त क्रिया का परिणाम है तथा धार्मिकता और साम्प्रदायिकता राष्ट्रीय निर्माण की प्रक्रिया में अवरोध पैदा करते हैं और साम्प्रदायिकता की भावना राष्ट्रीय एकता को खण्डित कर सकती है। यदि राष्ट्र के लोगों में राष्ट्रीय भावना पूर्ण परिपक्व न हुई हो।

(घ) समाज की आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था

– भारत ऐसा देश है जिसमें अनेक धर्मो के मानने वाले, अनेक जातियों के अनेक भाषाभाषी एवं अनेक नस्लों के लोग रहते हैं। धार्मिक सहिष्णुता और समन्वय संस्कृति का प्रमुख लक्षण है। एच0जी0 वेल्स ने अपने इतिहास में कहा है, यूरोप में राज्य के साथ बहुत कुछ बदला। एक युग आया तो पुराने युगों के तमाम निशान मिटा दिए इस रूप में अलैक्जेड्रिया का विशाल पुस्तकालय जला दिया गया था जो ग्रीक ज्ञान–विज्ञान का भण्डार था। स्पेन में सात सौ साल का मुस्लिम युग का हर चिह्न मिटा दिया गया। लेकिन पूर्वी दुनिया में ऐसा नहीं हुआ था? इसलिए चीन के कैंटन में आज भी पुरानी मस्जिद अटूट हैं थाईलैण्ड, इण्डोनेशिया में हिन्दू संस्कृति और दक्षिण भारत के केरल में उस जमाने के गिराज अभी तक वर्तमान है। फिर वे कौन ऐसे लोग हैं जिन्होंने राम के बाण को इस महान भारतीयता के सीने पर चला दिया? "पिछले कुछ सालों से देश की राजनीति में मंदिन–मस्जिद के सिवाय और कोई सवाल नहीं है। केन्द्र सरकार व राज्य सरकार बनती है और बिगड़ती है केवल इसी मुद्दे पर। आज ठेकेदारो का जमाना है। सरकारी कारखाने भी ठेकेदारों को दिए जा रहे है। राजनीति पर भी ठेकेदारों की पकड़ है। प्रचार है कि ठेकेदारी का काम सस्ते में होता है, इसलिए राज भी सस्ते में चलेगा। वह भी दिन आयेगा जब .थानों और नौकरी की नीलामी भी ठेकेदार करेंगे उसी क्रम में धर्म के भी ठेकेदार हैं, सम्प्रदाय के भी। हिन्दुओं का ठेकेदार और मुसलमानों का भी ठेकेदार सिक्ख–ईसाई के ठेकेदार तो हैं ही। इसीलिए कर चोरी और कार सेवा एक साथ चल सकती है। घी में डालडा में माफिया राम के साथ मारूति की मिलावट । लेकिन जब कार में चलकर कार सेवा नहीं होती थी। उस वक्त भी देश में रामभक्त थे किन्तु मंदिन–मस्जिद विवाद नहीं था। बाबर के

कुछ दिनों के बाद ही अकबर के समय में सत तुलसीदास रहे। इसी संदर्भ में बर्नाड शॉ ने कहा था "उस आदमी से सावधान रहना जिसका ईश्वर आकाश में रहता है क्योंकि ईश्वर का निवास तो व्यक्ति की अन्तर्रात्मा में होता है। लेकिन आज मात्र सावधान होना ही काफी नहीं, उसका सामना करना है।" साम्प्रदायवाद भाषा प्रतिष्ठा, सत्ता तथा जीवन निर्वाह की चिन्ताओं से मिलकर बना बहुफणी सर्प है जो श्रेष्ठतम शासन की सइच्छाओं एवं संकल्पों द्वारा भी बश में नहीं किया जा सकता। यह स्पष्ट है कि किसी भी

विकास प्रक्रिया में विशेषकर पूंजीवादी प्रणाली में, समाज के ऊपरी स्तर के लोगों को ही लाभ पहुंचता किन्तु समग्र–समुदाय के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाला नेतृत्व यह दिखाने की कोशिश करता है कि ऐसा उसके सहधर्मियों के प्रति जानबूझकर अपनाई जा रही भेदभाव की नीति के कारण होता है। अतः साम्प्रदायिक वैमनस्य विभिन्न प्रकार के लोगो के बीच सत्ता की सौदेबाजी के सार्वभौमिक व्यापार का ही दूसरा पहलू हैं। वामपंथी अर्थशास्त्रियों तथा राजनीतिज्ञों द्वारा पहले किया गया यह विश्लेषण कि "स्वतंत्रता और आर्थिक विकास के बाद साम्प्रदायिक विरोध समाप्त हो जायेगे' सत्य सिद्ध नहीं हुआ है। वस्तुतः भारत के आर्थिक विकास के फलस्वरूप सामाजिक तथा आर्थिक असमानताओं में वृद्धि हुई है। होता यह है कि समाज के विभिन्न वर्गों में समान रूप से फैली निराशा धार्मिक दृष्टि से अल्पसंख्यकों के साम्प्रदायिक मार्ग ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार साम्प्रदायिकत की सामाजिक एवं आर्थिक अनिवार्यताओं ने राजनीतिक प्रक्रिया को भी दूषित कर 8 लेख– ए0के0 राय, जनसत्त 24 दिसम्बर 1992 9 रत्ना नायडू – कामर्सिअल ऐज टू रूरल सोसायटीज इण्डिया एण्ड मलेशिया 1980 पेज 49 दिया है। स्वतंत्रता के इतने वर्षों के बाद भी हिन्दू व मुसलमानों के बीच सामाजिक एवं सांस्कृतिक एकीकरण दिखाई नहीं पड़ता। वस्तुतः जिन सम्प्रदायों के बीच ऐसा एकीकरण विद्यमान था, उदाहरणार्थ हिन्दुओं और सिक्खों में वहाँ भी उसे रूढिवाद व साम्प्रदायिकतावाद का खतरा पैदा हो गया है। स्वतंत्रता के बाद हुए साम्प्रदायिक उपद्रवों के अध्ययन से पता चलता है कि उनमें वृद्धि हो रही है। किन्तु इस विषय में स्थिति विभिन्न क्षेत्रों एवं नगरों में भिन्न–भिन्न है।

रत्ना नायडू के अनुसार – ऐसे नगर जिनमें बड़े साम्प्रदायिक उपद्रव हुए हैं, दो प्रकार के हैं। इनमें एक प्रकार के नगर वे है जो औद्योगिक नगर है और दूसरे प्रकार के वे जा दस्तकारी एवं उद्योग के नगर है और उद्योग एवं व्यापार के आधुनिक केन्द्रों के रूप में विकसित होने का प्रयत्न कर रहे है।

प्रथम वर्ग के उदाहरण जमशेदपुर, राउरकेला आदि है। और दूसरे वर्ग के उदाहरण मुरादाबाद, अलीगढ़, अहमदाबाद आदि है। " साम्प्रदायिक उपद्रवों से सामाजिक उपद्रवों से सामाजिक वातावरण दूषित होता है। विभिन्न वर्गों के लोगों, विद्यार्थियों गृहणियों, विश्वविद्यालय शिक्षकों एवं

व्यवसायियों यहां कि सामान्य रिक्शेवालो तथा तांगे वालो के अध्ययन से पता चलता है। कि लगभग सभी अपने सहधर्मियों के प्रति सहानुभूति रखते है और दूसरे साम्प्रदायिक समुदाय के शरारती तत्वों को दोष देते है। साथ ही वे साम्प्रदायिक दलों एवं संगठनों को प्रोत्साहन दल है। साम्प्रदायिकता से साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति होती है और इस प्रकार प्रतिक्रिय की श्रृंखला बनती चली जाती है। शासक दलों में साम्प्रदायिक एवं धार्मिक – वाले नेता भी इस प्रवृत्ति से अछूते नहीं रहते। ऐसी परिस्थिति में साम्प्रदाय आधार पर विभाजित समाज में साम्प्रदायिक नेताओं की भाषा शैली अमर भाषण, मनोवैज्ञानिक रूप से स्वीकार कर लिये जाने योग्य होने के कारण विषयों एवं नीतियों पर हावी हो जाते हैं।

ऐसी परिस्थितियों में समुदाय के उच्च स्तर के लोग कोई नेतृत्व प्रदान नहीं करते क्योंकि उनके हितों की पूर्ति जनसाधारण को साम्प्रदायिक दिशा में ले जाने से ही होती है। 'धर्म निरपेक्ष' दलों के नेता भी उचित दिशा में नेतृत्व प्रदान करने . में इस कारण असफल होते है कि उनकी नजर वोट बैंक' अर्थात मतों के समूह पर होती है। वामपंथी एवं साम्यवादी दल भी, अपनी ही कमजोरियों के कारण साम्प्रदायिकता को रोकने में प्रभावी भूमिका नहीं निभा पाये हैं। इस समय ऐसे नेतृत्व की आवश्यकता है जिसमें कल्पनाशक्ति हो, जो उपक्रमी हो और जो अनेक धर्मो, जातियों, नस्लों एवं भाषाओं वाले समाज के समग्र हितों को अपनी संकीर्ण

व्यक्तिगत एवं दलगत हितों से श्रेष्ठ समझे। किन्तु क्या यह सम्भव है? केवल अमूल सामाजिक परिवर्तन और क्रांतिकारी दृष्टिकोण अपनाना ही साम्प्रदायिकता के विषय को जड़ से उखाड़ फेंकने की दिशा में और वास्तविक धर्मनिरपेक्ष समाज स्थापित करने की दिशा में सही कदम होगा। साम्प्रदायिकता चाहे अल्पसंख्यकों की हो अथवा बहुसंख्यकों की, गुणात्मक रूप से समान है। अतः दोनों प्रकार की साम्प्रदायिकता का लगातार विरोध किया जाना चाहिए।

दुर्भाग्यवश साम्प्रदायिकता भारत के सामाजिक–राजनीतिक जीवन का अभिन्न अंग बन गई है। यद्यपि यह एक विरोधाभास है, फिर भी यह बात ध्यान देने योग्य है कि साम्प्रदायिकता दोनों प्रकार के लागों को आकर्षित करती है – जो अवनति की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं और जो उन्नति के आकांक्षी है। वस्तुतः सामाजिक–आर्थिक परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में विभिन्न राजनीतिक दलों की साम्प्रदायिक भूमिका थी, यहाँ तक कि उन राजनीतिक दलों की भी सावधानी से परीक्षा की जानी चाहिए जो सैद्धांतिक रूप से धर्मनिरपेक्ष होने का दावा करते है। इस प्रकार यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण समस्या का सामाजिक आर्थिक परिवर्तनों एवं विकास की गतिशीलता के दृष्टिकोण से अवल कन किया जाये।

साम्प्रदायिकता, एक विशेष स्तर पर पहुंचकर, साम्प्रदायिक हिंसा का रूप से लेती है। उत्तरी भारत में होने वाले साम्प्रदायिक उपद्रवों की प्रकृति का विश्लेषण करने के लिए हमें यह भी समझना होगा कि विभिन्न वर्गो, सामाजिक संगठनों, साम्प्रदायिक एवं धर्मनिरपेक्ष दोनों प्रकार के राजनीतिक दलों एवं संघर्षों में सम्मिलित सम्प्रदायों के विशिष्ट वर्ग की क्या भूमिका रही है। यह भी भलीभाँति समझना आवश्यक है कि धर्म स्वयं साम्प्रदायिक कटुता और झगड़े का मूल कारण नहीं है किन्तु जो लोग इसके द्वारा अपना हित साधना चाहते हैं, उनके हाथों में यह सशक्त हथियार है। वस्तुतः साम्प्रदायिकता ने धर्मेत्तर विवाद का रूप तभी लिया जब नरतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने प्रशासन एवं विधान मण्डलों के भारतीयकरण की माँग को और ऐसी निर्वाचन प्रणाली आरम्भ की गयी जिसके विषय में मुस्लिम विशिष्ट वर्ग को यह शंक थी कि उसके द्वारा जनसंख्या के आधार पर उनका उचित प्रतिनिधित्व नहीं होगा। विभिन्न समुदायों के असमान विकास में एक अंत साम्प्रदायिक समन्वित संवर्ग संरचना का विकास नहीं हो पता, बातें चाहे पूंजीवादी वर्ग के विकास की हों या सर्वहार वर्ग संरचना की। इस प्रकार अल्प विकसित समुदाय का उच्च वर्ग अपने प्रतिपक्ष के प्रति जिसका पलड़ा भारी होता है, प्रतिद्वन्द्विता की भावना से ग्रसित हो जाता है। स्वतंत्रता पूर्व के हिन्दू मुस्लिम संवत पर भी यह बात लागू होती थी और आज भी लागू होती है। मुसलमानों का वर्ग एवं बुद्धिजीवी वर्ग के लोग यह अनुभव करते हैं कि भारत में स्वतंत्र हुए विकास में उन्हें उतना लाभ नहीं मिलता जितना उनके हिस्से में लोकसभा में 1991 तक निर्वाचन के आंकड़े के अनुसार प्रतिनिधित्व के बारे में निम्नलिखित ताकिलका से भी यही स्पष्ट होता है।

जनगणना मुस्लिम जनसंख्या कुल स्थान मुस्लिम स्थान प्रतिशत निर्वाचन वर्ष (करोड़ों में) सिक्खों का एक समृद्ध समुदाय है। किन्तु फिर भी धनी एवं पूंजीवादी सिक्ख किसान स्वयं को उस औद्योगिक एवं वाणिज्यि व्यवस्था के बाहर पाते है जिस पर हिन्दुओं का प्रभुत्व है। ऐसी स्थिति में अपने समुदाय का जन–समर्थन प्राप्त करने के लिये यह वर्ग समय पर अपना व्यग्र असंतोष व्यक्त करता रहता है। ऐसा करने का सबसे अच्छा तरीका यही होता है कि एक ओर आर्थिक मांगों में कुछ धार्मिक संस्कृति मांगों को जोड़ दिया जाये और दूसरी ओर समुदाय के पूर्व इतिहास को पौराणिक रूप में प्रस्तुत किया जाये।

इस स्थिति का फल यह हुआ है कि भारत जैसे बहु–धर्मवादी समाज में साम्प्रदायिक सीमाओं के बाहर जाकर वर्ग एकता विशेषकर श्रमिकों एवं समाज के पददलित वर्गो की वर्ग एकता विकसित करना कठिन हो गया है, यद्यपि यही वर्ग साम्प्रदायिक हिंसा के शिकार होते हैं। भारत में साम्प्रदायिकता का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष जिसके विषय में समाजशास्त्री एकमत है यह है कि यह शहरों दिखाई पड़ती है। साम्प्रदायिकता की जड़े बुर्जुवा वर्ग में होती है। परम्परागत धर्म के प्रति सबसे अधिक

आकर्षण इसी वर्ग में होता है। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और जमायते इस्लाम दोनों का ही आधार शहरी निम्न बुर्जुआ वर्ग है जबकि अकाली उग्रवादी विद्यार्थियों, व्यावसायिक व्यक्तियों एवं व्यापारियों में से है। इन समुदायों के उच्च वर्ग अपने–अपने समुदाय के निम्न बुर्जआ वर्ग की धार्मिक भावनाओं का सफलतापूर्वक उपयोग कर अपना स्वार्थ साधते हैं। मगर जब साम्प्रदायिक झगड़े बहुत बढ़ जाते हैं तो ये गांवों में भी फैल जाते हैं फिर तो साम्प्रदायिकता चरम सीमा पर पहुंच जाती है और उसे सम्भालना कठिन हो जाता है। मगर 1980 से चली आ रही पंजाब में हिंसा की घटनायें यह साबित करती हैं कि यह धारणा भी ठीक नहीं रहीं। पंजाब में ग्रामीण इलाकों में साम्प्रदायिक और आतंकवादी हिंसा की वारदातें कहीं अधिक हुई है और शहरी इलाके इनकी तुलना में सुरक्षित रहे है। इसलिए इस प्रकार का सामान्यीकरण वर्तमान परिप्रेक्ष्य में ठीक नहीं बैठता। फलस्वरूप भारत के राजनीतिक क्षितिज पर साम्प्रदायिकता का संकट सदेव छाया रहता है। यही शक्तियाँ धार्मिक पुररुत्थानवाद एल रूढिवाद को जन्म देती है। बढ़ती हुई साम्प्रदायिकता से उत्पन्न असुरक्षा की भावना के कारण भी साम्प्रदायिक चेतना जन्म लेती और सुदृढ़ होती है और ऐसे तर्कहीन विचारों को प्रोत्साहन मिलता है। जिनका प्रचार अथवा समर्थन नवधनाढ्य, काला धन्धा करने वाले तस्करों, यहाँ तक कि उद्योगपतियों द्वारा भी किया जाता है। धीमे आर्थिक विकास की तुलना में आकांक्षाएं तेजी से बढ़ रही है। इसके फलस्वरूप समाज के विभिन्न वर्गो के बीच तनाव पैदा हो जाते है। इन वर्गों द्वारा अपनी बढ़ती हुई आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति क्षेत्रीय अथवा धार्मिक–संस्कृति पहचान के माध्यम से की जाती है। जैसा कि असम तथा पंजाब की स्थिति में देखने को मिलता है। चुनावों की राजनीति से भी साम्प्रदायिका को बढ़वा मिलता है। यह देखने में पाया है कि केन्द्रीय एवं राज्य के स्तर पर राजनीतिक शासक दल एवं विरोधी गुट अधिक से अधिक मत प्राप्त करने के लिये साम्प्रदायिक एवं जातीय प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देते है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि साम्प्रदायिकता एक अत्यंत जटिल समस्या है। वास्तविक धर्मनिरपेक्षता को बढ़ावा देकर तीव्र आर्थिक विकास करके और सामाजिक रूपान्तरण के द्वारा ही इस खतरनाक प्रवृत्ति को रोका जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रंथ–सूची

1. एम०पी०त्यागी, आर, के : आधुनिक भारतीय राजनीति एवं सामाजिक रस्तोगी विचार, मीनाक्षी प्रकाशन मेरठ, 1980
2. बी०एन० पाण्डेय गांधी महात्मा समग्र चितंन, सब्रो एन्टर प्राइजेज, चावड़ी,.. बजार, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1994
3. शंकर दयाल सिंह गांधी और अहिंसक विचार, दरियागंज नई दिल्ली, 1996
4. प्रदन एच प्रसाद गांधी, मार्क्स और इण्डिया जी–19, विजय चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली, 1994
5. केशव पाण्डेय स्वातत्रयोत्तर भारत में ग्राम्य विकास ओर गांधी दर्शन, मोहन गार्डन, नई दिल्ली, 1991
6. बिसेंटशीन गांधी जी निदेशक प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार पटियाला हाउस, नई दिल्ली, 1994
7. बेली, एफ, जी, पोलिटिकल एण्ड सोराल चेन्ज, यूनीवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, 1963
8. डे0एस0 के पंचायती राज, राजकमल, प्रकाशन, दिल्ली, 1962
9. दुबे, एस०सी० इण्डिन विलेज, एलाइड पब्लिशर्स, बम्बई, 1967 85
10. भावे, विनोबा : ग्रामदान, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1957
11. भावे विनोबा सुलभ–ग्राम दान, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, पांचवा सस्करण, 1965
12. नारायण, जय प्रकाश : मेरे विचार–यात्रा सर्व सेवा प्रकाशन राजघाट, वाराणसी, 1962
13. गांधी, एम0के0 : बिलेज स्वराज्य नव जीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1962
14. आल्डरकर, हेराल्ड एफ0 : लोकल गवर्नमेन्ट इन डेवलपिग कट्रीज मैक ग्राहिल, 1964
15. कुमारप्पा, जे0सी0 : द विलेज मूवमेन्ट, अखिल भारतीय सेवा संघ, काशी, 1960
16. कृपलानी, जे0बी0 : गाधी दर्शन, अनु, रमा बल्लभ चतुर्वेदी, पराग प्रकाशन, – पटना 1958
17. काटोन्सकी, टी : एक और सर्वोदय गांधी शांति प्रतिष्ठान नई दिल्ली, 1984
18. गांधी, एम0 के0 : माई एक्सपीरियम विद टुथ नव जीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, 1948
19. दत्त,रजनीपा :: भारत : वर्तमान एवं भावील पीपुल्स पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली 20. फिशर लुई : द लाइफ आफ महात्मा गांधी जोनाथन केप, लंदन, 1962
20. सिंह, अनूप : नेहरू दि राइजिग स्टार ऑफ इण्डिया न्यूयार्क जान डे कम्पनी,1939
21. दत्त आर पाम : इडिया टुडे लदन विक्अर गोलाक्स, 1940
22. दया प्रकाश रस्तोगी : राजनीतिक विवारो का इतिहास साधना प्रकाशन मेरठ,
23. पांचवा संस्करण, 1984

24. डॉ० गंगादत्त तिवारी : आधुनिक राजनीतिक चितन मीनाक्षी प्रकाशन मेरठ, पंचम संस्करण, 1981
25. डॉ0 ए0 अवस्थीः भारतीय राजनीतिक चितन रिसर्च पब्लिकेशन जयपुर, प्रथम संस्करण, 1961
26. गंगादत्त तिवारी : आधुनिक राजनीतिक चितन का इतिहास, मीनाक्षी प्रकाशन मेरठ ... संशोधित संस्करण,1968
27. सत्यनाराण दुबे : आधुनिक राजनीतिक चितनं प्रकाशन शिवलाल प्रकाशन आगरा, प्रथम संस्करण, 1961
28. डॉ० प्रभुदत्त शर्मा : राजनीतिक विचारों का इतिहास, प्रकाशन कॉलेज बुक डिपों, प्रथम संस्करण, 1978
29. डॉ० सुधबाला राष्ट्रीय विचारों का इतिहास, साधना प्रकाशन, मेरठ पंचम संस्करण, 1984 87
30. एलेक्जेन्डर ग्रे : सामजिक परम्पराए, 1946
31. डॉ० सम्पूर्णनन्द : सामाजिक प्रशासन, प्रकाशन नेशनल प्रा0 दिल्ली, 1961
32. जीवन मेहता :: राजनीतिक चिंतन का इतिहास, प्रकाशन साहित्य भवन, आगरा प्रथम संस्करण, 1982 88